ARYAVART SHODH VIKASH PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBBIL/2014/66218 PP. NO.- 228-229
ISSN NO.-2347-2944
Vol.-8, No.-II, Issues-IX YEAR- Dec-2017

पंडित दीनदयाल जी के धर्म एवं संस्कृति संबंधी विचार

डॉ0 प्रमोद कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष– हिन्दी विभाग, श्री चित्रगुप्त पी.जी. कॉलेज मैनपुरी (उ0प्र0) भारत

भारतीय ऋषि परम्परा के प्रतिनिधि – विश्व गुरू कही जाने वाली पावन भारत भूमि की ऋषि के प्रतिनिधि स्वरूप पंडित दीनदयान उपाध्याय जी का अवतरण कर्मयोगी श्री कृष्ण की लीलास्थली मथुरा के फरह के समीपस्थ गांव नगला चन्द्रभान में हुआ था। भक्त कवियों की भांति आत्मश्लाघिता रहित, आत्म विलोपी, तुलसी सम लोक शिक्षक, लोक नायक, निरहंकारी, निस्पृही विनम्र, मृदुभाशी, साधुस्वभाव, दृढ़ प्रतिज्ञ, राष्ट्रप्रेमी, सादा जीवन उच्च विचार जिनका आभूषण था, छुद्र भावनाओं से अछूते, अनाशक्त योगी, ऐसे राष्ट्रमंदिर के पुजारी पंडित जी ने अपना परिचय स्वंय कभी नहीं दिया। दूसरों को आगे करके राष्ट्र साधना में रत उनका जीवन चरित्र ही उनकी आत्मकथा है। आज जो कुछ भी हमें ज्ञात है वे उनके साथी संघ कार्यकर्ताओं के संस्मरण है। संस्मरण से प्राप्त परिचय कराना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। उनका आदर्श हमारी धरोहर है, जिसका अनुकरण करके युगों तक राष्ट्रधर्म की यह अविरल धारा निरन्तर बहती रहेगी। राश्ट्रधर्म के प्रबल पुजारी पंडित जी भारतीय धर्म एवं संस्कृति के प्रबल समर्थक थे।

पंडित जी की विचारधारा में धर्म व आस्था– पंडित जी हिन्दू सनातन धर्म के अनुयायी थे, जिसका मूल राष्ट्रधर्म ही था। उनके धर्म में नीति मर्यादा, मानवीय अधिकार, मूल्य, सांस्कृतिक राष्ट्र मण्डल की अवधारणा, राजधर्म शासन, शिक्षा स्वास्थ्य, सामाजिक समरसता आदि मानवीय आवश्यक तत्व विद्यमान थे। वे कोरे आस्तिक न होकर व्यावहारिक तत्व वेत्ता थे।

उपाध्याय जी कहते थे "धर्म का संबंध मन्दिर–मस्जिद से नहीं है। उपासना व्यक्ति के धर्म का एक अंग हो सकती है, परन्तु धर्म तो व्यापक है। मन्दिर–मस्जिद लोगों में धर्माचरण की शिक्षा के प्रभावी माध्यम रहे हैं, किन्तु जिस तरह विद्यालय विद्या नहीं है, उसी तरह धर्म मन्दिर से भिन्न है।"

गांधी जी की भांति उनका धर्म तीर्थ स्थल, पूजा–पाठ तक सीमित नहीं था। उनके विचार में धर्म का उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का आध्यात्मिक एवं भौतिक उन्नयन करना है। वे व्यक्ति धर्म के साथ राश्ट्रधर्म के कट्टर समर्थक थे। उनका मानना था कि व्यक्ति राष्ट्रधर्म का पालन करता है तो व्यक्तिगत धर्म का पालन स्वतः हो जाता है। इसका अर्थ ये नहीं कि वे मन्दिर या मूर्ति पूजा में आस्था नहीं रखते थे। वे पक्के आस्तिक थे। पंडित जी त्रिदेव, वायु, अग्नि, वरूण, तुलसी, गाय सभी देवताओं की सत्ता में समान आस्था रखते थे। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर की सत्ता स्वीकारते थे, परन्तु ढोंग–ढकोसलों का विरोध भी करते थे। एक बार जगन्नाथजी के दर्शन करने गये परन्तु वहां के पण्डे–पुजारियों ने पूजा के नाम पर चढ़ावा, भेंट आदि कर्मकाण्डी अनर्गल बातें प्रारम्भ कर दीं और पंडित जी बिना दर्शन किये ही लौट आये।

उन्होंने कहा था –"आज मैं पक्का सनातनी बनकर दर्शन करने गया था, परन्तु कोरा आर्यसमाजी बनकर लौटा हूँ, मुझे बड़ा दुःख है, क्योंकि मेरा जन्म यहां से बहुत दूर हुआ है। अब जगन्नाथ जी का प्रतिदिन दर्शन करने के लिए मुझे यहां पुनर्जन्म लेना होगा।" जितने वे हिन्दू ध्र्मा, राष्ट्रधर्म के प्रति कट्टर थे, उतने ही वे दूसरे धर्मो के प्रति सहिष्णु थे। भारत में सहिष्णुता का ढोल पीटने वाले कुचकी यदि भारतीय संस्कृति, धर्म और महापुरूषों को जानने का थोड़ा सा भी प्रयास करें तो उनके ह्रदय में विषांकुर प्रस्फुटित ही न होगा।

पंडित जी के अनुसार यज्ञ– वे यज्ञ की व्याख्या करते हुये कहते थे– "व्यक्ति समाज पर निर्भर है और समाज व्यक्ति पर तथा सृष्टि नियती पर, जब तक यह परस्पर सहयोग करता है, तब तक सृष्टि चलती रहती है। यही यज्ञ चक्र है। गीता का उदाहरण देकर वे समझाते थे–"प्राणी अन्न से, अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से तथा यज्ञ ब्रह्म से उत्पन्न है। अतः यह एक चक्र है। यह अखण्ड चक्र ही सभी सुखों की धारणा है। यही धारणा धर्म है क्योंकि "धार्यते इति धर्म।" अतः परस्पर कर्तव्यों का पालन ही धर्म है।

धर्म के पालन हेतु वे राष्ट्र में परिवार भावना तथा परिवार में राष्ट्र भावना के परस्पर मेल पर बल देते थे। वे कहते थे– प्रत्येक घटक में राष्ट्रप्रेम की भावना का विकास ही धर्मनिष्ठता है, परस्पर अनुकूलता ही स्वतंत्रता का आधार है, यही चिती है, धर्म है, धर्म ही भारत की आत्मा है।

पंडित जी के अनुसार संस्कृति– वैसे तो पंडित जी का जीवन चरित्र ही भारतीय संस्कृति की गाथा है। विश्वबंधुत्व, वसुधैव कुटुम्बकम, परोपकार, परदुःखकातरता, धीर, वीर, नीर, क्षीर, विवेकी, स्वावलंबी, स्वाभिमानी, वैदिक संस्कृति

अनुरूपी लेखक

को जीवन में जीने वाले उपाध्याय जी ने शिविर में प्रश्नकर्ता को बड़े ही सरल शब्दों में समझाया था–"हर मनुष्य को कभी न कभी जमुहाई आती है" वह स्वाभाविक ढंग से आ जाये तो प्रकृति, किन्तु जान मुझकर मुंह टेड़ा–मेड़ा करना, ऊँची आवाज करना विकृति है। कतई कोई आवाज किये बिना मुंह पर रूमाल जमुहाई लेना संस्कृति है।

इतने उच्च विचार को इतने स्वाभाविक सादगी भरे शब्दों में परिभाषित करना उपाध्याय जी की ही कुशलता है। सर्वधर्म एकता एवं विश्व में उन्नति का पाठ पढ़ाते हुये वे हमेशा कहते थे– "उत्तराधिकारी के रूप से प्राप्त राष्ट्र की अस्मिता, अखण्डता और विश्व भर में श्रेष्ठ भारतीय जीवन दर्शन के संरक्षण के लिये हम कोई भी बलिदान देने के लिये कटिबद्ध हैं, परन्तु सिद्धान्तों के साथ समझौता करने के लिये तैयार नहीं।"

भारतीय संस्कृति का ध्येय मानव उत्थान, विश्व कल्याण– "प्राचीन काल से ही भारत के प्रत्येक क्रियाकलाप में धर्म समाहित है। गाय और तुलसी को यहां पूजते हैं चाहे हम इसकी वैज्ञानिक औषधीय गुण जानते हों या न जानते हों, यदि हमारे हिन्दू राष्ट्र की अटूट जीवन शक्ति है। इस जीवन शक्ति की जड़े कितनी गहरा हैं, कल्पनातीत है। हिन्दू राष्ट्र का विचार कोई संकीर्ण– विचारधारा नहीं, इस शब्द में समूची मानवता समायी है, जो चराचर सृष्टि से अनंत कोटि ब्रह्माण्ड के साथ एकरूप होने की प्रेरणा देता है।"

भारतीय हिन्दू राष्ट्रवादी संस्कृति सौ दो सौ साल पुरानी नहीं बल्कि प्राचीन काल से चली आ रही है। इसका आधार स्वार्थ नहीं, आपसी संघर्श नहीं, बल्कि परमार्थ एवं परस्पर सहयोग है। पाश्चात्यों की भांति भारत में राष्ट्रीय एकता एक विशाल प्राईवेट लिमिटेड कंपनी नहीं हैं जिसमें अंशदाता अपने निजी स्वार्थ के कारण जुड़ते हैं। स्वार्थ के लिये तो डकैत भी परस्पर ईमानदारी का व्यवहार करते हैं। यहां तो निःस्वार्थ भाव से सहयोग किया जाता रहा है। हमारी संस्कृति का सार ही "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः" है। विश्व कल्याण है। सब का उत्थान है। भारत की ऐसी परम पवित्र संस्कृति को जीने वाले साक्षात् दधीचि सम पंडित जी को हमारा शत–शत बार नमन।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राष्ट्रधर्म – अगस्त, 2012 अंक, पृ. 24.
2. पाञ्चजन्य – फरवरी, 2016 अंक, पृ. 04.
3. भारतीय संस्कृति : भोलाशंकर व्यास, पृ. 105.
4. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ. 14.
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास : आचार्य बल्देव उपाध्याय, पृ. 172.

*****